भूमिका

भारत एक कृषि प्रधान देश है। इसकी संस्कृति कृषि संस्कृति रही है। इस संस्कृति के वाहक भारत के ग्रामीण परिवेश में रहने वाले आम लोग है। यही लोग पूरे देश को अपने कठोर श्रम द्वारा अन्न उपलब्ध कराते हैं। यह महत्वपूर्ण बात है कि जिस ग्रामीण परिवेश में ये अपने कर्तव्यों का निर्वहन करते है वही ग्रामीण परिवेश, समस्याओं से सबसे ज्यादा ग्रसित रहा है। आज भारत को आजाद हुए 67 बर्ष बीत चुके हैं। इन बीते वर्षों में न जानें कितनी सरकारें आयीं और गयीं, कितने ही दावे और वादे हुए किन्तु ग्रामीण परिवेश में व्याप्त समस्याएं आज भी लगभग वैसी ही हैं। किसान आज भी कर्ज़ के बोझ तले आत्महत्या कर रहे हैं, इनके किसान से मंजदूर बनने की लाचारी वैसी ही है, जैसे पहले थी, इनका शोषण आज भी वैसे ही हो रहा है जैसे पहले होता था, फर्क सिर्फ इतना है कि शोषण के तरीके बदल गए।

जहां पहले हमारे देश के गांव देश की आर्थिक मजबूती में एक अहम भूमिका निभाते थे। वहीं समय बीतने के साथ बाजारवादी शक्तियां हावी होनें लगी और शहर देश की आर्थिक शक्ति के केन्द्र बनने लगे। उदारीकरण तथा वैश्वीकरण ने देश की आर्थिक सत्ता शहरों में केन्द्रित कर दी। जिसके कारण आज किसान स्वयं अपने द्वारा उत्पादित अन्न खुद उंचे दामों में खरीदने को बाध्य हो गया है। इनके कुटीर उद्योगों, लघु उद्योगों को, विश्व व्यापार संगठन के नाम पर समाप्त किया जा रहा है। यह बात गौर करने लायक है कि समस्याग्रस्त हमारे देश का किसान किस प्रकार वैश्विक अर्थव्यवस्था में

किसी विकसित देश के किसान से मुकाबला कर सकता है। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण क्षेत्रों की आश्रितता शहरों पर बढ़ने लगी। यहीं से शुरू हुआ भोले-भाले ग्रामीणों का पलायन एवं अंतहीन शोषण जिसके साथ-साथ परंपरा के नाम पर चली आ रही कुछ मान्यताएं जो समय के साथ जड़ होकर ग्रामीण समाज को अंदर ही अंदर खोखला करने लगीं। जातिवाद, सामंतवाद, सूदखोरी महाजनी व्यवस्था, छुआ-छूत धार्मिक रूढ़िया एवं आडम्बर, ऐसी ही रूढ़ियों के कुछ भयावह रूप है जिनके चंगुल में ग्रामीण जीवन आज भी जकड़ा हुआ है।

ग्रामीण जीवन हमेशा से साहित्यकारों, कलाकारों फिल्मकारों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। सभी ने अपनी अभिव्यक्तियों में भारत के ग्रामीण जीवन की भूरी-भूरी प्रशंसा की है, साथ ही उसकी विद्रूपताओं एवं जड़ मान्यताओं पर उतने ही तीखे प्रहार भी किए है। यह भी सत्य है कि आज भी हमारे देश के गांव मानवीयता के सबसे बड़े पोषक हैं। हिंदी सिनेमा शुरू से ही ग्रामीण जीवन का उसके परिवेश का, उसकी संस्कृति का, सभ्यता का, नृत्य, गीत-संगीत का प्रशंसक रहा है। यही कारण है कि हिंदी सिनेमा ने प्रारम्भ से ही ग्रामीण परिवेश की इन विशेषताओं को अपना विषय बनाता रहा है। जहां एक ओर हिंदी सिनेमा ने इन विशेषताअें को स्थान दिया वहीं दूसरी ओर इसने ग्रामीण समस्याओं कोभी अपना विषय बनाया है। छुआछूत के विषय पर, अछूत कन्या, सुजाता, सामंतवादी विषय पर नया दौर, मुझे जीने दो, गंगा जमुना, पलायन की समस्या पर- 'दो बीघा जमीन, श्री 420, अनाड़ी, जागते रहो, महाजनी, व्यवस्था पर मदर

इण्डिया, जमीदारी समस्या पर अंकुर, निशांत आदि फिल्में तत्कालीन ग्रामीण समस्याओं को महत्वपूर्ण ढंग से रेखांकित करती हैं।

प्रस्तुत लघु-शोध प्रबंध में ग्रामीण समस्याओं एवं उनके विभिन्न स्वरूपों पर आधारित हिंदी सिनेमा का अध्ययन-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। जिसमें स्वतंत्रता पूर्व हिंदी सिनेमा से लेकर, नेहरू युग के सिनेमा, सामानांतर सिनेमा तथा 21वीं सदी के हिंदी सिनेमा की कुछ चुनिंदा फिल्मों को अध्ययन का आधार बनाया गया है। विभिन्न दशकों की फिल्मों को अध्ययन का आधार बनाने के पीछे एक कारण यह भी था कि यह बात भी स्पष्ट हो जाए कि हिंदी सिनेमा में इन दशकों में चित्रित ग्रामीण समस्याओं का स्वरूप कैसा था एवं यह फिल्में किस हद तक इन्हें वास्तविक समस्या के समानांतर चित्रित कर सकीं।

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध तीन अध्याओं में विभक्त है। **प्रथम अध्याय** के अंतर्गत भारतीय ग्रामीण जीवन तथा इसकी समस्याओं के स्वरूप का परिचय दिया गया है। जिसके अंतर्गत भारतीय गांव का ऐतिहासिक परिचय, स्वातंत्रयोत्तर ग्रामीण भारत की स्थित तथा ग्रामीण भारत की प्रमुख समस्याओं पर आधारित तथ्यों का अध्ययन-विश्लेषण किया गया है। **द्वितीय अध्याय** के अंतर्गत विभिन्न दशकों की, ग्रामीण समस्याओं पर आधारित, चुनिन्दाहिंदी फिल्मेां का परिचय एवं उसमें ध्वनित ग्रामीण समस्याअें पर चर्चा की गई है। **तीसरे अध्याय** में चयनित फिल्मेां के समाजिक यथार्थ

का विश्लेषण किया गया है। जिसमें 'वेलडन अब्बा' को समकालीन ग्रामीण समस्याओं के विशेष संदर्भ में रखा गया है।

यह लघु शोध प्रबंध एक अंतर-अनुशासनिक विषय से संबद्ध है। जिसमें एक तरफ ग्रामीण समस्याओं की वास्तविकता है तो दूसरी तरफ इन्हीं वास्तविकताओं का सिनेमाई रूप फिल्मों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। आलोचनात्मक शोध प्रविधि के आलोक में ग्रामीण समस्याओं पर आधारित हिंदी सिनेमा का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है।

इस लघु शोध-प्रबंध को आकार देने तथा इस रूप में प्रस्तुत करने में मेरे शोध शोधनिर्देशक प्रो. ओमप्रकाश भारती जी का स्नेहिल मार्गदर्शन मुझे प्राप्त हुआ है। जिससे मुझे समुचित दिशा मिल सकी साथ ही मैं विभागाध्यक्ष प्रो. सुरेश शर्मा जी का भी आभारी हूँ जिनका प्रोत्साहन एवं सहयोग लगातार मिलता रहा। इस लघु शोध प्रबंध में सहयोग करने वाले अग्रज डॉ. अश्विनी कुमार सिंह, श्री भगवत पटेल एवं अपने मित्रों में अमरेन्द्र प्रताप सिंह तथा आशीष कुमार के प्रति विशेष आभार जिनके सहयोग के बिना शायद यह लघु शोध-प्रबंध इस रूप में नहीं आ पाता।

प्रथम अध्याय

1 भारतीय ग्रामीण जीवन तथा समस्याओं का स्वरूप

'गांव' यह ऐसा शब्द है जिससे भारत के अन्तर में स्थित उसके वास्तविक स्वरूप की जानकारी स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। भारत एक कृषि प्रधान देश है और इसकी लगभग सत्तर प्रतिशत जनसंख्या गांवों में निवास करती है। गांव व्याप्त 'ग्रामीण जीवन' को समझने के लिए हमें 'गांव' या 'ग्राम' की संकल्पना को समझना होगा। गांव शब्द वस्तुतः ग्राम शब्द का ही अपभ्रंश है, इन दोनों शब्दों का एक ही तात्पर्य है। अतः प्रस्तुत शोध कार्य में दोनों शब्दों का प्रयोग उनके वाक्य विन्यास की अनुकूलता के आधार पर किया जायेगा। ग्राम शब्द का विवेचन करने पर हमें ज्ञात होता है कि वैदिक काल से ही गांवों या ग्रामों का अस्तित्व देखने को मिलता है। मंत्रों, श्लोकों एवं वेदों की ऋचाओं में ग्राम शब्द को कई स्थानों पर प्रयोग किया गया है। जिनमें 'ग्राम' के सम्पन्न होने एवं अधिक अन्न उपजाने की प्रार्थनाऐं की गई हैं। ग्राम शब्द अपने आदिम रूप में उस स्थान की ओर संकेत करता है जहां प्रकृति के शुद्ध एवं मनोरम रूप में भोले-भाले व्यक्ति अपने तथा औरों के लिए अन्न का उत्पादन करते है, जहां उन व्यक्तियों के लिए यह ईश्वर द्वारा प्रदत्त कर्त्तव्य है जिसका वो पूरी निष्ठा से पालन करते हैं।

1.1 भारतीय गाँव का ऐतिहासिक परिचय

भारत के ग्रामीण जीवन को समझने के लिए हमें भारतीय वैदिककालीन समाज को समझना आवश्यक है।

वैदिककालीन समाज- "वैदिक काल में समाज को जनजातीय समाज कहा गया है।"[1] जनजाति से ऐसे जन समुदाय का बोध होता है जो स्वयं को किसी एक पूर्वज की संतान मानते हो। अतः वैदिक काल से ही हमें एक संगठित समाज की रूपरेखा देखने को मिलती है जिसमें सामंजस्य की भावना सभी में समान रूप से विद्यमान है। ''*किन्तु जनजाति शब्द का प्रयोग इस प्रकार हुआ है कि जैविक (बायोलॉजिकल) और नस्ली (रेसिमल) पहचानों की बात छोड़ भी देंतो इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के सामाजिक और आर्थिक रूप समाहित हो गये हैं।*''[2]कालान्तर में इसके लिए 'वंश' शब्द का प्रयोग होने लगा। ''*वैदिक समाज के केन्द्र में वंश ही है, वह चाहे छद्म ही क्यों न हो। इसका प्रयोग राजन्यों तथा क्षत्रियों के लिए 'वंश' के अर्थ में तो हुआ ही है, इसके अतिरिक्त उपनिषदों के ऋषियों में जहां उत्तराधिकारी का जन्मना आवश्यक होता था, ऋषियों के वंश शिष्य परम्परा से भी चलते थे।*''[3]वंश का महत्व प्रत्येक वर्ण में था जिसमें विवाह और बंधुत्व के नियम निश्चित थे। वंश के आधार पर समाज में हैसियत भी निर्धारित

[1]रोमिला थापर, आदिकालीन भारत की व्याख्या, अनुवाद मंगलनाथ सिंह, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 2008 पृष्ठ 105
[2]वही पृष्ठ, 105
[3]वही पृष्ठ, 105

होती थी और तद्नुसार संसाधनों पर नियंत्रण भी होता था। चार वर्णों के उदय का वंश पर आधारित समाज से घनिष्ट सम्बन्ध था।

इसके अतिरिक्त कृषक (किसान) शब्द की व्युत्पत्ति हमें वैदिक काल से ही देखने को मिलती है। *''ऋग्वेद के 'विश' तथा पालि ग्रंथों के 'गहपति' दोनों का अनुवाद आदिकालीन भारत के इतिहास के प्रसंग में 'कृषक' ही किया गया है।''*[4]दैनिक 'विश्' एक सामान्य बोधक शब्द था जिसमें गृहस्थी के लिए पशुपालन खेती तथा कुछ शिल्प शामिल थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस ग्रामीण समाज की चर्चा हम यहाँ पर कर रहे हैं वह हजारो वर्ष प्राचीन है। ग्रामीण समाज के आवश्यक अंग 'किसान' की उपस्थिति भी हमें लगभग उसी समय से देखने को मिलती है।

सामाजिक परिप्रेक्ष्य में गाँव शब्द की विशिष्टता-सामाजिक दृष्टिकोण से गाँव शब्द की अपनी एक अलग ही पहचान है। यह पहचान कुछ खास गुणों से मिलकर बनती है जिनका एक ही उद्देश्य होता है, प्रत्येक कार्य में सामूहिकता की भावना। गाँव अपने आप में विकसित संगठन है जिनकी बागडोर स्वयं उस गाँव में निवास करने वाले व्यक्तियों के हाथों में होती है। इस संगठन के कुछ गुण निम्नलिखित हैं।

[4]वही पृष्ठ, 105

सामूहिक सहयोग-भारतीय ग्रामीण समाज में सदैव सहयोग की परम्परा चली आई है। ग्रामीण अंचलों में जहाँ आज भी आधुनिकता ने अपने पैर नहीं पसारे है वहाँ लोग एक दूसरे का सहयोग करते है उनके दुःख-सुख बांटते है। उनके लिए गाँव एक संस्था न होकर उनका अपना परिवार होता है। यही कारण है कि निर्धन ग्रामीणों के पास धन न होते हुए भी उन सभी के कई कार्य आपसी सहयोग से पूर्ण हो जाते है। शादी-ब्याह के आयोजनों से लेकर, कच्चे मिट्टी के घरों को बनाने तथा उन पर छप्पर रखने आदि ढेर सारे कार्यों में वे बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेते है। ग्रामीणों के मुख्य कार्य कृषि में वे एक-दूसरे का सहयोग करते है फसल की बुआई से लेकर उसकी कटाई तक सभी अपनी जिम्मेदारी को भली प्रकार पूर्ण करते है। यही आपसी सहयोग उन्हें संगठित रखता है और बड़ी से बड़ी विपत्ती भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ पाती।

सांस्कृतिक संगठन-लोक-संस्कृति को उत्पन्न करने वाला गाँव कई गीतों, धुनों, नृत्यों, संगीतों, वस्त्रों आदि को अपनी परम्परागत शैलीयों में लिए हुए है। संस्कृति के आधार पर गाँव अपनी श्रेष्ठता को दूर-दूर तक पहुँचाते है। यही कारण है कि आज भी भारत के कई गाँव अपनी कलात्मक एवं सांस्कृतिक विशिष्टता के लिए सम्पूर्ण विश्व में विख्यात हैं। संस्कृति परस्पर लोगों को प्रभावित करती है। बोली, भाषा, व्यवहार से हम आसानी से अंदाजा लगा सकते है कि अमुक व्यक्ति किस संस्कृति से जुड़ा हुआ है। अतः यह कहा जा सकता है कि भारत में गाँव ही संस्कृति के परिचायक हैं उनके वाहक हैं। गाँवों में रहने वाला कोई भी अपनी इस सांस्कृतिक धरोहर से गहरे तक जुड़ा होता है।

स्वातंत्रोयत्तर ग्रामीण भारत की सामाजिकता

भारतीय ग्रामीण समाज के अनेक रूप है और वे सभी जीविकोपार्जन की विभिन्न पद्धतियां अपनाते है। पशुपालन, खेती, मजदूरी, दस्तकारी तथा शिल्पकारी आदि में से किसी भी पद्धति से ग्रामीण समाज जुड़ा हो सकता है। खेती या कृषि की शुरुआत के लिए सहयोग और स्थिर आवास आवश्यक है। इससे ग्रामीण समाज के लिए स्थायी आधार तैयार होते है। किन्तु जब उन्नत किस्म की खेती से काफी अन्न का उत्पादन होता है, तो ग्रामीण समाज की समता पर आँच आने लगती है। इससे प्रतिष्ठा और वैभव पर आधारित सामाजिक वर्गो का उदय होता है, और ग्रामीण समाज के उच्च स्तर पर बैठे लोग अपने ही ग्रामीण समाज में निम्न स्तर पर स्थित बंधु-बांधवों का व्यापक शोषण आरम्भ कर देते हैं। ये बातें ग्रामीण व्यवस्था की जड़ों को कमजोर करने लगती हैं।

मध्यकालीन इतिहास से लेकर अब तक कृषक समाज या किसान वर्ग की कोई स्पष्ट संकल्पना देखने को नहीं मिलती। किन्तु यदि कृषक समाज का अर्थ ऐसी व्यवस्था से है जिसमें पुरोहित (ब्राह्मण) और सामंती (उच्च वर्ग) वर्ग किसानों द्वारा उत्पादित संसाधनों पर जीवन-यापन करते हैं तो ऐसा समाज विश्व में प्राचीन समय से ही कायम था।

जिस प्रकार ग्रामीण समाज में बहुत अधिक विविधताएँ हो सकती हैं उसी प्रकार सामंती समाजों के रूप भी अलग-अलग हो सकते हैं। मार्क्स ने ठीक ही कहा है कि ''*अलग-अलग देश-कालों में सामंतवाद की अलग-अलग विशेषताएँ होती हैं और वह अपने*

विभिन्न चरणों से अलग-अलग अनुक्रम में गुजरता है।''[5] सामंतवाद मुख्य रूप से कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था में प्रकट होता है जिसमें एक वर्ग भूमिपतियों का होता है और दूसरा पराधीन किसानों का। ''इस व्यवस्था के अधीन भूमिपति सामाजिक धार्मिक या राजनीतिक उपायों से, जिन्हें गैर-आर्थिक उपाय कहा जाता है, अतिरिक्त उत्पाद को हड़प लेते हैं। यही सामंतवाद के सम्बन्ध में न्यूनाधिक प्रचलित मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रतीत होती है।'' ''पूर्वी भारत में बौद्ध विहारों का बहुत अधिक वर्चस्व था। दक्षिण भारत में मंदिर जागीरों के रूप में सामने आए, और ऊपरी तथा मध्य गंगा घाटी, मध्य भारत, दक्कन एवं असम में ऐसी ही स्थिति बहुतसे ब्राह्मणों की थी।''

यह बात तो स्पष्ट है कि ग्रामीण समाज में आर्थिक उत्पादन का प्रमुख साधन भूमि है। यह बात साफ समझ लेनी चाहिए कि 20वीं सदी में स्वतन्त्रता के पूर्व काल में जमीन के एक ही टुकड़े पर किसान के अधिकार निम्न श्रेणी के होते थे और भूस्वामी के अधिकार उच्च श्रेणी के होते थे। किसान के पास जमीन, श्रम, गाय-बैल आदि जानवर तथा खेती भी हों, किन्तु हमें देखना यह है कि उत्पादन के साधनों पर उसका 'नियंत्रण' कितना कारगर है। कर-लगान, बेठ-बेगार, बराबर मौके पर मौजूद अनुदान भोगियों का सतत हस्तक्षेप ये सब बातें क्या किसान के नियंत्रण को सचमुच कारगर होने देंगी? आखिर सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी को कोई क्यों मारेगा। अतः भारतीय ग्रामीण समाज में किसानों का सामाजिक एवं आर्थिक शोषण करने के लिए तत्कालीन समाज में उन्हें

[5]मार्क्स-एंगेल्स, प्री कैप्टालिस्ट शोसीओ-इकॉनमी फोरमशौंस 1979 page-23

जिन्दा तो रखा गया साथ ही उनके जैसे अन्य व्यक्तियों को भी उत्पन्न करने के लिए बाध्य भी किया गया।

1.2स्वातंत्रयोत्तर ग्रामीण भारत की स्थिति

सन् 1947 का भारत एवं ग्रामीण स्वरूप

15 अगस्त सन् 1947 को आजाद हुए भारत में चाहे जैसी खुशी और आनन्द का वातावरण रहा हो किन्तु यह भी एक कड़वा सच था कि औपनिवेशिक सत्ता के जाने पश्चात् जो आजाद भारत हमें मिला वो अपने साथ कंगाली, कुरुपता तथा विध्वंस का यर्थाथ भी साथ लेकर आया। अपनी मृत्यु से पूर्व रवीन्द्रनाथ टैगोर सन् 1941 में इस आशंका को जाहिर करते हुए लिखते हैं-' *'काल का चक्र एक दिन अंग्रेजों को भारतीय साम्राज्य छोड़ने के लिए विवश कर देगा। परन्तु अपने पीछे वे किस तरह का हिन्दुस्तान छोड़ जाएंगे? निरा कंगाल और बदहाल? जब उनका सदियों का शासन-तंत्र समाप्त हो जाएगा तब वे अपने पीछे कैसी गंदगी, कीचड़ और कुरुपता छोड़ जाऐंगे?''*

अन्य क्षेत्रों की तरह आर्थिक क्षेत्रों में भी औपनिवेशिक सत्ता ने भारत को प्रभावित किया। इससे जो सबसे ज्यादा प्रभावित हुआ वह था भारत का गाँव। उद्योग, कृषि, परिवहन, संचार, तकनीकि, प्रशासन आदि के क्षेत्रों में जो भी परिवर्तन हुए उससे भारत की छवि एक विकसित पूंजीवादी देश के रूप में नहीं बन पाई, बल्कि इसके ठीक उलट औपनिवेशिक आर्थिक ढांचा ही अधिक मजबूत हुआ जिसने गरीबी, अल्प-विकास

और समृद्ध राष्ट्रों पर निर्भरता को बढ़ावा दिया।"*औपनिवेशिक ढांचा दरअसल देश के विकास में मुख्य बाधा बन गया। विकास की जो भी शक्तियां पैदा हुई थीं वह उपनिवेशवाद की नहीं बल्कि राष्ट्रीय आंदोलन और विविध क्षेत्रों में भारतीय जनता के संघर्षों की उपज थी।*"[6]

सन् 1947 में आजाद हुए भारत में आर्थिक पिछड़ेपन का एक अन्य अभिसूचक था भारतीय आबादी का शहरी-ग्रामीण अनुपात। उस समय यह अनुपात लगभग 82.3 प्रतिशत (ग्रामीण) तथा 17.3 प्रतिशत (शहरी) था। यह अनुपात अपने आप में तत्कालीन भारतीय ग्रामीण स्थिति को दर्शाता है। सन् 1950 तक लगभग 70 प्रतिशत लोग कृषि पर पूर्ण रूप से निर्भर थे जो कि गाँवों में निवास करने वाले किसान थे। भारत में आर्थिक बचत का अधिकांश भाग, औपनिवेशिक सत्ता, पूंजीपति तथा देशी सामन्तों एवं सूदखोरों के हाथों नियन्त्रित होता था। भारतीय गाँव के विकास एवं निर्भरता के एक मात्र साधन कृषि पर किसी ने कोई ध्यान नहीं दिया जिसके फलस्वरूप किसानों एवं मजदूरों के भूखों मरने की नौबत आ गई।

"इस बचत का सबसे बड़ा हिस्सा लगभग दो शताब्दियों तक देश के बाहर बहाया जाता रहा। औपनिवेशिक सत्ता, इसके अधिकारियों तथा विदेशी व्यापारियों के द्वारा ऐसा अनुमान किया जाता है कि भारत की राष्ट्रीय आमदनी का 5 से 10 प्रतिशत भाग

[6]विपिन चंद्र, समकालीन भारत, पृ . 25

विदेशी शासकों के द्वारा सीधे-सीधे बाहर भेज दिया जाता था। आमदनी के इस बाह्य निष्कासन को देखते हुए कोई भी देश कैसे विकास कर सकता था।'' [7]

भारतीय कृषि के क्षेत्र में बीसवीं सदी के आरम्भ से ही ह्रास के लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे। समय के एक लम्बे अन्तराल में कृषि का एक ऐसा ढांचा विकसित हो गया था जिसमें जमींदारों, सूदखोरों तथा महाजनों के पास कृषि-उत्पादन का आधे से अधिक हिस्सा नियंत्रित होने लगा तथा इन सभी ने कृषि के विकास में कोई निवेश नहीं किया अपितु इसका दोहन ही करते रहे। फलस्वरूप गरीब किसान जिनमें अधिकांश रैयत या आसामी थे, भुखमरी के कगार पर पहुँच गये। किसानों की बदहाली का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि कई-कई महीनों तक इन्हें दो जून का भोजन भी नहीं मिलता था, कभी-कभी तो स्थिति ऐसी हो जाती थी कि दिन में एक बार भी भोजन मिलना मुश्किल हो जाता था।

ये बात गौर करने लायक है कि जिस देश में अन्न उपजाने वाला अन्नदाता अर्थात किसान खुद भूखा रहे वहाँ कैसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति होगी। किसान जो कि भारतीय ग्राम्य जीवन का परिचायक है किस प्रकार की यंत्रणा झेल रहा था। ये दुःख ही उनमें एक आम बात थी जिससे सभी दो-चार हो रहे थे और यही वो कारण था जिसने उन्हें संगठित होने की प्रेरणा दी।

[7]विपिन चंद्र, समकालीन भारत, पृ . २६

सन् 1947 के भारत में किसानों के स्वास्थ्य की स्थिति

आजादी के वर्षों में भारत के गाँव में निवास करने वाली जनता एक तरफ तो खाद्यान्न की कमी से जूझ रही थी तो दूसरी तरफ किसानों और मजदूरों का स्वास्थ्य भी उनका साथ छोड़ रहा था। इस बात का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि ''*उस समय प्रति 1000 पर मृत्यु दर 27.4 थी और 1000 जीवित बच्चों में मृत्यु दर 175-190 थी। एक औसत भारतीय मात्र 32 वर्ष की आयु अपेक्षा कर सकता था। चेचक, प्लेग तथा हैजे जैसी महामारियों से लाखों लोग मर जाते थे। मलेरिया ने देश की एक-चौथाई आबादी को प्रभावित किया जिनमें अधिकांश ग्रामीण थे। स्नातक डॉक्टरों की संख्या 18, 000 से भी कम थी और उनमें भी अधिकांश शहरों में ही रहते थे।*''[8] गाँव तथा शहरों में सफाई की कोई व्यवस्था नहीं थी। जल आपूर्ति की प्रणाली गाँवों में नदारद थी। ऐसी स्थिति में बिजली की कल्पना करना भी उनके लिए सम्भव न था। तत्कालीन सरकार द्वारा प्रदान की जाने वाली स्वास्थ्य सेवाएँ भी गाँव के पहुँच से बाहर थी जिसके फलस्वरूप आम छोटी-छोटी बिमारियों से ग्रसित होकर अधिकांश ग्रामीण अपना जीवन खो रहे थे।

[8]विपिन चंद्र, समकालीन भारत, पृ . २७

गाँधी के सपनों का भारत

महात्मा गाँधी ने अपनी रचना हिन्द स्वराज (1905) में अपने सपनों के भारत का सुन्दर चित्रण किया है। यह पुस्तक महात्मा गाँधी के विचारों का एक लम्बा यात्रा वृतान्त है जिसे कई वर्षों की सूझ-बूझ एवं चिंतन के साथ लिखा गया। यहाँ पर यह बात गौर करने लायक है कि महात्मा गाँधी ने अपने आन्दोलनों का आधार बिन्दु भारतीय ग्राम समाज को बनाया। ''*कालांतर में गाँधी के नेतृत्व में चलाये गये आन्दोलनों चंपारण (1917), असहयोग (1920-22), बारदोली (1928) तथा सविनय अवज्ञा (1930-31) ने ग्राम समाज के सरोकारों को राष्ट्रीय आन्दोलन की अभिजातीय धारा से जोड़ दिया। ग्रामीण भारत के पुर्नजीवन की जरूरत को गाँधी गहराई से* [9]*समझते थे उनका मानना था कि आधुनिक सभ्यता ने पश्चिमी लोगों को न केवल मशीनी जिन्दगी जीने के लिए मजबूर कर दिया था बल्कि उन्हें लोलुप प्रतिस्पर्धी समुदायों में बदल दिया था।*'' अपने शब्दों में अपने गम को व्यक्त करते हुए महात्मा गाँधी लिखते हैं.''*मुझे गम है कि उद्योगवाद मानव जाति के लिए अभिशाप बन जाने वाला है। उद्योगवाद सर्वथा इस बात पर निर्भर है कि आप में शोषण करने की कितनी शक्ति है.....*'' हिन्द स्वराज के जरिये गाँधी भारतवासियों को औद्योगिकवाद के दौर में लाये जा रहे शहरीकरण के खतरों के प्रति सचेत करना चाहते थे। इसके ठीक विपरीत स्थिति भारतीय ग्राम समाज की थी। वहाँ जीवन सहज था और समुदायों के बीच सद्भाव बना हुआ था। अपने सपनों के भारत की

[9]ललित जोशी, बालीवूड पाठ, पृ ६१

चर्चा नेहरू से करते हुए महात्मा गाँधी लिखते हैं ''*मेरे सपनों का गाँव अब भी मेरे मन में है। यह सच है कि हर मनुष्य अपने सपनों के संसार में जीता है। मेरे आदर्श गाँव में बुद्धिमान इंसानों का वास होगा। वह गंदगी और अंधकार में नहीं रहेंगे। पुरुष और स्त्री दबावों से मुक्त जी सकेंगे। न प्लेग होगा, न हैजा, न चेचक, न कोई बेकार रहेगा, न ही विलास में आलोड़ित.....रेल, तार तथा डाकघर की कल्पना सहज है..... मेरे लिए असल वस्तु को प्राप्त करना प्रमुख है, शेष तो चित्र में स्वयं ही शामिल हो जायेगा।*'' [10]

गौरतलब है कि महात्मा गाँधी शहरों को पाप और भ्रष्टाचार का केन्द्र मानते थे जबकि नेहरु गाँवों को अज्ञानता और पिछड़ेपन का प्रतीक। जवाहर लाल नेहरु ने गाँधी जी को लिखे अपने पत्र में उनसे प्रश्न किया कि ''*मुझे समझ में नहीं आता कि ग्राम सत्य और अहिंसा के प्रतीक क्यों दिखें?*''[11] नेहरु के इस प्रश्न के उत्तर में गाँधी जी ने उन्हें भारतीय गाँवों को भली प्रकार समझने के लिए उसे नजदीक से देखने और महसूस करने के लिए प्रेरित किया। गाँधी जी यह अच्छी तरह समझते थे कि भारत की वास्तविक शक्ति उसके गाँवों में बसी हुई है जिसे जगाकर स्वतन्त्रता आन्दोलन में शामिल किये बगैर आजादी सम्भव नहीं है।

[10]Anthony j parel, महात्मा गाँधी, हिन्द स्वराज़, पृ 152

[11]Gyan prakash, the urban turn in the cities of everyday life, page 4

1.3 ग्रामीण भारत की प्रमुख समस्याएँ

औपनिवेशिक बेड़ियों से आजाद हुए भारत में कई समस्याएँ थी और इन समस्याओं से सबसे ज्यादा प्रभावित था भारत का गाँव। भारत में सन् 1947 से लेकर अब तक लगभग कुल आबादी का 75 प्रतिशत भाग गाँवों में रहता चला आया है। अतः समस्याओं से सबसे ज्यादा भारतीय गाँव ही प्रभावित है। इनमें मुख्य समस्याएँ निम्न प्रकार हैं-

भूमिविहीन होता भारत का किसान-यह वह प्रमुख समस्या है जिससे आजादी से लेकर आज तक भारतीय किसान ग्रसित होता चला आया है। किसान जिसके लिए उसकी कृषि योग्य भूमि ही सब कुछ है, जो उसकी आजीविका का एक मात्र साधन है जिस पर उसका सारा परिवार निर्भर है यदि उससे छीन ली जाये तो वह किस प्रकार दुःखों से व्यथित होता है इसका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि आजादी के बाद भारतीय किसानों की स्थिति में बदलाव लाने के लिए कृषि सम्बन्धी कानून भी बनाये गये किन्तु उनका कोई सार्थक महत्व देखने को नहीं मिलता। ''*स्वातंत्रयोत्तर कृषि-विधान ने कृषि संबंधों में बुनियादी रूपांतरण किए हैं, हालांकि वह बदलाव ऊपर से हुए हैं और किसानों की सक्रिय भागीदारी के बिना।*''[12]दरअसल स्वतन्त्रता प्राप्ती के बाद औद्योगिकीकरण पर विशेष ध्यान दिया गया किन्तु कृषि सुधार-सुधार के लिए नाम मात्र के ही प्रयत्न किये गये। तत्कालीन भारत मे यह समस्या दो वर्गों के बीच थी, पहला वर्ग

[12]विपिन चंद्र, समकालीन भारत, पृ ३२

था धनाढ्य जमींदारों एवं सामंतों का तो दूसरा वर्ग था किसानों का। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि उस समय की सरकार को जमींदारों एवं सामंतों से धन का एक बड़ा हिस्सा प्राप्त होता था जो कि सरकार चलाने के लिए आवश्यक था। अतः जमींदारों को भूमि सम्बन्धी कुछ रियायतें प्राप्त थी। ''*भूतपूर्व जमींदारों को खेती करने के लिए काफी जमीनें रखने की छूट दी गई। इससे बड़े पैमाने पर छोटे काश्तकार बेदखल हुए। देश के कुछ भागों में जमींदारी, अर्द्धसामंती, रैयतवारी और बटाईदारी खेती लम्बे समय तक जारी रही और धीरे.धीरे ही समाप्त हुई।*''

स्वातंत्रयोत्तर कृषि कानून से बहुसंख्यक गरीब किसानों और खेतिहर मजदूरों को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। समय बीतने के साथ यह कृषि में ढांचागत परिवर्तन का सूचक बन गया। यद्यपि जमींदारी प्रथा को बाद में समाप्त कर दिया गया किन्तु इससे किसानों की अपेक्षा पुराने दखलकारों को अधिक लाभ हुआ। इसके परिणाम स्वरूप पुराने दखलकारों को जमीन के बड़े-बड़े हिस्से सौंप दिये गये जिनमें से अनेक लोग पर्याप्त जमीनों के स्वामी बन बैठे और धनी किसानों अथवा बड़े पैमाने पर पूंजीवादी किसानों के रूप में धीरे-धीरे पूंजीवादी कृषि की ओर उन्मुख हुए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के आरम्भिक वर्षों में किसानों की स्थिति सोचनीय थी। तत्कालीन भारत का एक बड़ा वर्ग इससे प्रभावित था। किसानों की यह स्थिति तब और भी अधिक प्रभावित हुई अनेक पुराने जमींदारों और भू-स्वामियों ने उन जमीनों पर पूंजीवादी खेती अपना ली जिन्हें उन्होंने खुद काश्त के लिए रखा था। इन कारणों का प्रभाव यह हुआ कि किसानों का एक बड़ा

समूह अपनी जमीन से बेदखल हुआ और अपने ही खेतों में काम करने वाला मजदूर बन जाने को विवश हुआ। तत्कालीन कृषक वर्ग की इस दयनीय दशा पर कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' लिखते हैं-

''विद्युत की इस चकाचौंध में देख, दीप की लौ रोती है।

अरी, हृदय को थाम, महल के लिए झोंपड़ी बलि होती है।।

देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय शोषित की धारें।

बनती ही उन पर जाती हैं, वैभव की ऊँची दीवारें।।''

सूदखोरी की समस्या-ग्रामीण भारत की दूसरी सबसे बड़ी समस्या है, सूदखोरी। आजादी से लेकर अब तक यह समस्या किसानों के लिए काल बनी हुई है। सेठ, साहूकारों, महाजनों से भारी ब्याज पर उठाये गये ऋण की अदायगी न कर पाने के कारण किसान अपनी भूमि से बेदखल कर दिया जाता है। यह स्थिति आज भी कमोबेश वैसी ही है, यद्यपि सरकार किसानों के उत्थान के लिए बैंकों से भी कर्ज़ मुहय्या कराती है किन्तु उस कर्ज़ के ब्याज और मूलधन को न चुका पाने की स्थिति में वही सरकार गरीब किसानों की भूमि पर कब्जा कर उसे नीलाम कर देती है। इन स्थितियों में नुकसान सदैव किसान का ही होता है और यह नुकसान किसान के समक्ष कई रूपों में आता है, जैसे-कर्ज़ की वसूली के लिए बार-बार किसान को उसके परिवार तथा गाँव वालोंके समक्ष बेइज्ज़त करना, किसान की जमीन पर ज़बरदस्ती कब्जा कर लेना आदि। इस

बेइज्जती से वो ग्रामीण किसान अन्दर-अन्दर बिखर जाता है और अंत में उसे इस परिस्थिति से मुक्ति दिलाने का एकमात्र साधन आत्महत्या ही नजर आती है। आज भी भारत के कई प्रदेशों में किसानों की आत्महत्या एक बड़ी चुनौती है। इस विकट परिस्थिति से बचने के लिए किसान तो आत्महत्या कर लेता है लेकिन उसके बाद उसका परिवार किस प्रकार जीवन यापन के लिए संघर्ष करता है इसका वर्णन अत्यन्त मार्मिक है। इस स्थिति पर अपनी लेखनी चलाते हुए दिनकर जी लिखते हैं

''स्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।

युवती के लज्जा-वसन बेंच, जब ब्याज़ चुकाये जाते हैं।।''

यह एक विचारणीय तथ्य है कि आजादी के इतने वर्षों बाद भी किसानों की स्थिति में कोई सन्तोषजनक परिवर्तन नहीं आया है। यद्यपि स्वतन्त्रता संघर्ष के समय से ही किसान और मजदूर स्वतन्त्रता प्राप्ती तथा अपनी स्थिति परिवर्तन के लिए प्रयासरत थे किन्तु स्थिति परिवर्तन में कहीं न कहीं उनकी अशिक्षा भी आड़े आ रही थी। *''राष्ट्रीय आन्दोलन विभिन्न धाराओं के संचित प्रयासों के कारण भारतीय जनता आगे बढ़ रही थी। सब जगह विरोध, विद्रोह और लोकप्रिय जन-उभार का माहौल था। देश में सर्वत्र किसानों के आन्दोलन चल रहे थेापटियाला, से त्रावणकोर और गुजरात से बंगाल तक। मजदूर हर जगह अपनी मांगों के लिए आवाज बुलंद कर रहे थे।''*[13]

[13]विपिन चंद्र, समकालीन भारत पृ 32

जातिप्रथा की समस्या-भारत में जातिप्रथा की समस्या लम्बे समय से विद्यमान है। जाति के विभिन्न खानों में बँटा भारतीय समाज अंधविश्वासों के जाल में आज भी जकड़ा हुआ है। आज भी कई स्थानों पर भारत में जातिप्रथा के प्रभावों को महसूस किया जा रहा है। दरअसल जातिप्रथा एक ऐसी मनोवैज्ञानिक स्थिति का जन्म देती है जिनमें एक जाति रंग, रूप एवं काया के आधार पर अपने को दूसरी जाति से श्रेष्ठ मानती है। 19वीं सदी की यदि बात करें तो हम पाते हैं कि तत्कालीन समाज पूरी तरह से इन अंधविश्वासों और रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था। मैक्स वेबर इस स्थिति पर लिखते है कि ''*भारत में हिंदू धर्म दरअसल, जादू, अंधविश्वास तथा आध्यात्मवाद की खिचड़ी बनकर रह गया था।*'' लम्बे समय तक अंग्रेजों के हाथों गुलाम रहने के विभिन्न कारणों में से जातिप्रथा भी एक कारण थी। जातिप्रथा से ग्रसित भारतीय समाज विभिन्न वर्गों में बँटा हुआ था जिसने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संगठित विद्रोह नहीं होने दिया। जातिप्रथा ने भारतीय समाज को पूरी तरह बाँट रखा था जिसे अंग्रेजी शासन ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के विरुद्ध एक औजार के रूप में उपयोग किया।

जातिप्रथा की स्थिति पर राजाराम मोहन राय लिखते है-''*मुझे खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि धर्म के वर्तमान ढाँचे ने हिन्दुओं को इस बुरी तरह जकड़ रखा है कि उनके राजनीतिक हित के बारे में कुछ किया ही नहीं जा सकता। जाति-भेद और जातीय अभिमान ने उन्हें अनगिनत वर्गों और उप-वर्गों में बाँट दिया है, जिससे उनमें देश प्रेम की भावना पूरी तरह खत्म हो गई है। सैकड़ों तरह के धार्मिक रीति-रिवाजों, धार्मिक*

समारोहों और शुद्धीकरण के नियम ने उन्हें इस कदर बाँध रखा है कि वे कोई जोखिम का काम हाथ में लेने लायक नहीं रह गये हैं। इसलिए मेरे ख्याल से, अब यह जरूरी हो गया है कि हिन्दू धर्म के स्वरूप में कुछ परिवर्तन लाए जाएँ। कम से कम हिंदुओं के राजनीतिक और सामाजिक हितों के लिए तो ऐसा करना बेहद जरूरी हो गया है।''

तत्कालीन भारतीय सामाजिक परिस्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। महिलाओं की हालत तो सबसे ज्यादा दुर्भाग्यपूर्ण थी। लड़की का जन्म एक दुर्भाग्य माना जाता था, उसकी शादी बोझ समझी जाती थी और विधवा होने पर तो उसे कोई पूछता ही नहीं था। कई इलाकों में तो हालत यह थी कि लड़की के पैदा होते ही लोग उसे मार डालते थे। अगर किसी तरह लड़की इससे बच भी गई तो उसे बाल-विवाह की यातना झेलनी पड़ती तथा पति की मृत्यु के बाद समाज उससे सती होने की अपेक्षा रखता। राजा राममोहन राय ने सती प्रथा का घोर विरोध किया। उन्होंने कहा कि *''किसी भी शास्त्र के अनुसार यह हत्या ही है।''* बहरहाल यदि कोई महिला सती होने से बच भी जाती या बचा ली जाती तो उसे जीवन भर वैधव्य कादुःख भोगना पड़ता।

जातिप्रथा कई तरह के सामाजिक-आर्थिक शोषण का हथियार बनी हुई थी। संस्कार और कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था समाज को ऊँचे और निचले तबकों में बाँट रखने और लोगों के अलग-अलग सामाजिक दरजों को बरकरार रखने के लिए पोषित की जा रही थी। *''इसने समाज को इतने टुकड़ों में बाँट रखा था कि उसमें गतिशीलता ही नहीं*

रह गई थी, समाज जैसे जड़ हो गया था। और इसकी सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात थी छुआछूत, जिसके चलते 'शूद्र' को आदमी का दरजा भी हासिल नहीं था।''

समाज को जड़ बना देने वाली इस जाति व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष छेड़ा गया। जाति व्यवस्था न सिर्फ नैतिक रूप से एक घिनौनी व्यवस्था थी, बल्कि इससे ज्यादा चिंता की बात यह थी कि इसने लोगों में देश प्रेम की भावना को खत्म कर दिया था और लोकतांत्रिक विचारों के विकास में यह सबसे बड़ी बाधा बनी हुई थी। राजा राममोहन राय ने वैचारिक धरातल पर इसके खिलाफ पहल की, हालाँकि उन्होंने इसके खिलाफ कोई सक्रिय संघर्ष नहीं शुरु किया। जाति-व्यवस्था के विरोध की यह आवाज 19वीं सदी का अंत आते-आते तेज होती गई। रानाडे, दयानंद और विवेकानंद ने भी तत्कालीन जाति-व्यवस्था का विरोध किया। जहाँ सुधारवादी आमतौर पर इस व्यवस्था के पूरी तरह खात्मे के पक्ष में थे, दयानंद चतुर्वर्ण को बनाए रखने के समर्थक थे। लेकिन इस मामले में उनकी अनोखी कल्पना थी। दयानंद के अनुसार.''*कोई भी ऐसा व्यक्ति ब्राह्मण कहलाने योग्य है, जिसने सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त किया हो ओर जो उत्तम चरित्र का हो और जो व्यक्ति ज्ञान और चरित्र के मामले में निकृष्ट हो, वह शूद्र है।*

उपसंहार

हमारा देश सम्पूर्ण विश्व में अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के लिए जाना जाता है। यह सभ्यता एवं संस्कृति हजारों वर्ष पुरानी होने के साथ- साथ न जाने कितने विविध रूपों को अपने में समाहित किए हुये है। भारतीय ग्रामीण संस्कृति भी इसी का एक रूप है। यह संस्कृति कितनी व्यापक एवं विस्तृत है, इस बात का अंदाजा यहाँ रहने वाले लोगो से लगाया जा सकता है।आज भी भारत की दो तिहाई जनता गावों मे रहती है। यही कारण है की हमारे धर्मग्रंथो, वेदों, पुराणों मे इनकी विस्तृत चर्चा देखने को मिलती है। इतने व्यापक स्तर पर समृद्ध होने के कारण ही भारतीय ग्रामीण परिवेश की चर्चा लगभग समस्त साहित्यकरों तथा लेखकों नें अपनी-अपनी कृतियों मे की है। जब यह चर्चा साहित्य मे उपलब्ध थी तो भला सिनेमा इससे कैसे अछूता रह सकता था। यहाँ पर दो बातें महत्वपूर्ण हैं, एक तो साहित्य मे ग्रामीण परिवेस की चर्चा तथा दूसरी, फिल्मों में इस परिवेश की चर्चा। दोनों ही साधनों में ग्रामीण परिवेश अपनी एक अलग ही पहचान के साथ विकसित हुआ।

चूंकि साहित्य में समाज का एक प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है तथा सिनेमा साहित्य से अपने विषय लेता है। अतः हम कह सकते हैं कि साहित्य और सिनेमा अन्योन्याश्रित हैं। यही कारण है कि साहित्य में मुखर होने वाला ग्रामीण चिंतन, सिनेमा में भी अपने सशक्त रूप में सामने आता है। 'हिन्दी सिनेमा में ग्रामीण समस्याओं का स्वरूप' विषय पर अध्ययन करने के पश्चात निम्नलिखित तथ्य प्राप्त हुए –

1 सिनेमा में यथार्थ का प्रतिबिम्ब- भारतीय ग्रामीण स्थितियों पर आधारित हिन्दी फिल्में यथा, धरती के लाल, दो बीघा ज़मीन, अंकुर तथा निशांत का अध्ययन करने के पश्चात यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण समस्याओं को जनता के सामने प्रस्तुत किया गया है। यह प्रस्तुतीकरण यथार्थ को सिनेमाई बिंबो के माध्यम से व्यवस्थित तौर पर किया गया है। 'अछूत कन्या' में जातिगत समस्याओं पर प्रश्न खड़े करती हुई यह फिल्म समाज को जातिभेद के मुद्दे पर पुनः सोचने के लिए बाध्य करती है। 'धरती के लाल' में अपने नीड़ से उखड़कर अनजाने शहर में पलायन कि व्यथा को स्पस्ट करते हुए इसके कारणों पर सोचनें का एक अवसर मिलता है। 'दो बीघा ज़मीन' एक किसान से मज़दूर बनने कि कथा को जीवांत करते हुये किसानों के भविष्य पर, बहस को जन्म देती है।

'अंकुर' सामंतवाद विरोधी विद्रोह के प्रस्फुटन पर हमारा ध्यान आकर्षित करती है तथा इसके समापन पर बल देती है। 'निशांत' में सामंतवादी डर को ख़त्म होते हुए दिखाया गया है जो कि समाज को खोखला एवं विद्रूप बना रहा था। यह 'रात्रि के बाद दिन' आने कि सूचना को संदर्भित करता है।

इस प्रकार समग्र अध्ययन करने पर इन फिल्मों के द्वारा समाज पर व्यापक प्रभाव को महसूस किया गया।

2 बदलाव का सूचक सिनेमा-

बदलाव एक प्रक्रिया है जो मंथर गति से चलती रहती है। कभी समाज के बीच से निकला कोई साहित्य, कोई व्यक्ति या कोई घटना ही समाज मे बदलाव कि प्रक्रिया में तेजी ला देती है। निष्कर्ष में सिनेमा ऐसे ही उत्प्रेरक कि भाँति प्राप्त हुआ दिखता है। सिनेमा अपनी आपार शक्तियों द्वारा व्यक्ति के विचारों पर प्रहार करता है। 'मदर इंडिया', 'नया दौर', 'मंथन', लगान' आदि ऐसी ही फिल्मे हैं जो बदलाव का संदेश लेकर आती हैं।

3 सामाजिक यथार्थ पर व्यंग- कुछ बातों के कहने के तरीक़ों पर, बात कि महत्ता आश्रित होती है। उदाहरण के लिए क्लिस्ट बातों को व्यंग के माध्यम से दूसरों तक बख़ूबी पहुचाया जा सकता है किन्तु यदि इन्ही बातों को उनकी शाब्दिक कठिनाई के साथ प्रस्तुत किया जाय तो वह आम जन मानस तक नहीं पहुच पातीं। यही कारण है कि 'वेल्डन अब्बा' में कथ्य तो पुरानी समस्याओं पर आधारित है, जिसे हम रोज टी. वी., पत्र-पत्रिकाओं, तथा अख़बार के माध्यम से ग्रहण करते हैं किन्तु इस फिल्म मे कहानी को कहने का तरीका विशिस्ट है। हास्य विनोद से पूर्ण वेल्डन अब्बा में व्यंग के आधार पर कठिन चीजों को आसानी से कहने कि विशेषता नज़र आती है।

उपरयुक्त निष्कर्षो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हमारा हिन्दी सिनेमा सच्चाई को कहने के मामले में अब परिपक्व होता नज़र आने लगा है। आशा है यह परिपक्वता अपने उत्कृष्ट रूप में आगे भी सामने आती रहेगी।